E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi, Assistant Professor, Department of Sanskrit, Dr. Shyama Prasad Mukherjee University, Ranchi

अनुबन्ध चतुष्टय-*क) अधिकारी-साधनचतुष्टय*

डा० धनञ्जय वासुदेव द्विवेदी

सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,

डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी विश्वविद्यालय, राँची

वेदान्तसार में 'अधिकारी' के विवेचन के क्रम में साधनचतुष्टय की चर्चा प्राप्त होती है। वेदान्त विद्या के अधिकारी को साधनचतुष्टय से सम्पन्न होना चाहिए। यह बात अधिकारीरूप अनुबन्ध के निरूपण के प्रसङ्ग में कही गई है। वेदान्तसारकार सदानन्द का कहना है कि नित्यानित्य वस्तु का विवेक, ऐहलौकिक तथा पारलौकिक फल के भोग से अनासक्ति, शमादि छः सम्पत्तियाँ तथा मोक्षप्राप्ति की कामना ये साधनचतुष्टय हैं-

"साधनानि नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविरागशमादिषट्सम्पत्तिमुमुक्षुत्वानि"।

काल, स्थान आदि की सीमा जिस वस्तु को बद्ध नहीं कर सकती वह वस्तु नित्य है। इसके विपरीत काल की सीमा से बन्धने वाली वस्तु अनित्य है। संसार की सभी वस्तुएँ काल सीमा से बद्ध हैं अतः अनित्य हैं और ब्रह्म तीनों कालों से बाधित न होने के कारण नित्य है। यही नित्यानित्यवस्तुविवेक है। वस्तुतः एकमात्र ब्रह्म ही नित्य वस्तु है, उससे भिन्न जो कुछ प्रतीत होता है वह सब अनित्य है।

ब्रह्म की एकता और नित्यता को प्रमाणित करने वाली कुछ सुतियाँ प्रमाण रूप से यहाँ उद्धृत की जाती हैं -

"नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्"।

"अजो नित्यःशाश्वतः"।

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"।

"आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः"।

"एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"।

ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सब कुछ अनित्य है। इनमें निम्न श्रुतिवाक्य प्रमाण हैं-

"यो वै भूमा तदमृतम् यदल्पं तन्मर्त्यम्"।

"नेह नानास्ति किञ्चन"।

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किञ्चनमिषत"।

दूसरा साधन है ऐहलौकिक और पारलौकिक फलों के भोग से वैराग्य। इस लोक में प्राप्त होने वाले माला, चन्दन और कान्ता आदि विषयों का भोग, जैसे कर्म के फलरूप होने के कारण अनित्य है। वैसे ही परलोक में उपलब्ध होने वाले अमृत, अप्सरा आदि विषय भोग भी यज्ञादि कर्मों के फल होने के कारण अनित्य हैं। इस प्रकार विचार कर उन विषयों से अत्यन्त विरक्ति का होना अर्थात् ऐहलौकिक तथा पारलौकिक फलों के भोग से विरक्ति ही इहाऽमुत्रार्थफलभोगविराग है।

जब पुरातन पुण्यपुञ्ज के परिपाक से सद्बुद्धि का उदय होता है कि नित्य वस्तु तो एक ही है और वह है ब्रह्म जो सत्-त्रिकालाबाध्य, चित्-स्वप्रकाश बोध तथा आनन्दविषय निरपेक्ष निरतिशय सुरवस्वरूप है, और उससे भिन्न जो भी कुछ प्रतीत होता है वह सब अनित्य है, उसकी प्राप्ति और समाप्ति दोनों विविध दुखों से भरे हैं। तब ब्रह्म भिन्न किसी वस्तु में उसका राग नहीं रह जाता। इस प्रकार ऐहिक और पारलौककिक सभी विषयों के राग की समाप्ति ही दूसरा साधन है।

तीसरा साधन है शम आदि छः गुणों से सम्पन्न होना। ये छुः गुण हैं- शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा। जिस प्रकार भूख-प्यास शान्त करने के साधन अन्न-जल हैं और भूखे-प्यासे का मन बार-बार अन्न-पानी की ओर दौड़ता रहता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के साधन श्रवण, मनन इत्यादि हैं। उस श्रवण मनन इत्यादि को छोड़कर अन्य जो सांसारिक विषय हैं उनमें बार-बार दौड़कर जाते हुये मन को एक विशेष प्रकार की अन्तःकरण की वृत्ति रोकती है। इसी रोकने वाली वृति को शम कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी 'शम' को ब्रह्मज्ञान के लिये अत्यावश्यक कहा है। यथा-

"योगारुढस्य शमः कारणमुच्यते"।

दम का अर्थ है आत्मविषयक श्रवणादि से भिन्न विषयों से श्रौत्र आदि बाह्य इन्द्रियों का निवृत्त हो जाना। बाह्य विषयों में रागयुक्त मन ही बाह्य इन्द्रियों को बाह्य विषयों की ओर ले जाता है। अतः

जब बाह्य विषयों में मन का राग नहीं रह जाता तब उनकी ओर बाह्य इन्द्रियों का उपसर्पण अनायास ही बन्द हो जाता है। बाह्येन्द्रिय दो प्रकार की होती है- क) कर्मेन्द्रिय और ख) ज्ञानेन्द्रिय। कर्मेन्द्रिय पाँच हैं- वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ। ज्ञानेन्द्रिय भी पाँच हैं- चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, घ्राण तथा रसना। दम को श्रीकृष्ण ने गीता ब्रह्मज्ञान का हेतु कहा है-

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

श्रवण, मनन इत्यादि, से अतिरिक्त जो विषय हैं, उनसे हटाई हुई इन्द्रियाँ श्रवण-मननादि, ज्ञान के साधनभूत शब्दादिकों से अतिरिक्त शब्दादिकों में जाने ही न पावें, यह जिस वृत्ति के द्वारा होता है, उसे उपरति कहते हैं। जो नित्य नैमित्तिकादि कर्म जैसे सन्ध्यावन्दन, अग्निहोत्र इत्यादि गृहस्थादिकों को करने के लिये शास्त्रों में कहे गये हैं, उनका संन्यास आश्रम स्वीकार कर लेने के पश्चात् शास्त्रोक्त विधिपूर्वक परित्याग कर देना उपरति कहलाता है। कर्मों के परित्याग की विधि श्रुतियों एवं स्मृतियों में कही गयी है। मनुस्मृति कहती है-

"प्रजापत्यां निरुप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।

आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणो प्रवजेद् गृहात्"।।

वस्तुतः उपरति मन का वह कार्य है जो दमित इन्द्रियों को उनके विषयों में न जाने से रोकता है। वस्तुतः उपरति, शम और दम से अत्यल्प अन्तर रखती है।

दम और उपरति में ठीक वैसा ही भेद है जैसे जनवाहनादि से सङ्कुल राजमार्ग पर पहुँचे शिशु को वहाँ से घर में खींच लाने और घर से बाहर राजमार्ग पर पुनः उसे न जाने देने में होता है। इन्द्रियाँ अभ्यासवश बाह्य विषयों से सम्पर्क करती हैं। इस सम्पर्क को समाप्त कर देना अथवा विफल बना देना दम है और विषयों के साथ इन्द्रियों के सम्पर्क को ही रोक देना उपरति है।

सर्दी-गर्मी, मान-अपमान आदि तथा इनसे उत्पन्न दुःख-सुखादि का अनुभव सबको होता है। किन्तु यह समझकर कि यह तो शरीर-धर्म है, आत्मा को इससे कुछ लेना देना नहीं है, सबका सहन कर लेना तितिक्षा है। सुख को सहने की क्षमता होने से अब उत्पन्न होने से सुखमूलक प्रमाद का भय

नहीं होता और दुख को सहने की क्षमता होने से उत्पन्न होने से दुःख उत्पन्न होने पर मनुष्य अनुत्साह और निराशा के आक्रमण से मुक्त रहता है। इसके फलस्वरूप मनुष्य अप्रमाद और धैर्य के कारण अपनी साधना से विचलित नहीं होता।

वस्तुतः शीतोष्णादि शरीर से सम्बन्ध रखते हैं, आत्मा से नहीं। आत्मा सबसे स्वतंत्र है। विवेकचूडामणि कहती है-

"सहनं सर्वदुःखानामप्रतिकारपूर्वकम्।
चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते"।।

गीता कहती है -

"मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तां स्तितिक्षस्व भारत"।।

वस्तुतः विवेकरूपी दीपक से मिथ्या होने पर भी भाषित होने वाले द्वन्द्वों मर्षण ही तितिक्षा है।

समाधान का अर्थ है विषयों से प्रत्याहृत चित्त की आत्मा के श्रवण आदि तथा उनके अनुकूल विषयों में स्थिरता। स्पष्ट है कि चित्त विषयों से निवृत्त होने पर भी यदि श्रवण आदि में स्थिर न होगा तो आत्मा के वास्तविक रूप का साक्षात्कार न हो सकेगा। अतः आत्मसाक्षात्कार के लिये समाधान-आत्मज्ञान के साधनों में चित्त की स्थिरता आवश्यक है। इसलिगे गीता में कहा गया है-

"यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्मैतदात्मन्येव वश नमेत्"।।

मन के वश में हो जाने पर उसे श्रवण-मनन तथा निदिध्यासन से एकाग्र कर देना अर्थात् अनवरत रूप से नित्य उन्हीं का चिन्तन करना समाधान है। गीता में श्रीकृष्ण कहते भी हैं-

"मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय"।

समाधान के लिये अपरिग्रह अत्यन्त आवश्यक है -

"दण्डं आच्छादनं कौपीनं परिगृहेत् शेषं विसृजेत्"।

श्रद्धा का अर्थ है गुरुवचन तथा शास्त्रवचन में विश्वास प्रामाण्य का दृढ़तर निश्चय। इसके बिना तत्त्वज्ञान प्राप्त होना असम्भव है। गीता भी कहती है-

"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः"।

यही विश्वास प्रामाण्य आत्मजिज्ञासु के प्रयत्न की सफलता का मेरुदण्ड है। यदि आत्मजिज्ञासु को गुरु और शास्त्र में प्रामाण्य बुद्धि न होगी तो वह गुरूपदेश को शतशः सुनने पर तथा शास्त्रों का असकृत अध्ययन करने पर भी उनके अर्थ के सम्बन्ध में संशयालु बना रहेगा। फलतः गुरु और शास्त्र के बताये मार्ग पर न चलकर इतस्ततः भटकता रहेगा और अन्ततः उसके हाथ कुछ न लगेगा। अतः आत्मज्ञान के पथिक के लिये श्रद्धा का सम्बल अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

श्रद्धा के बिना यज्ञ, दान, तप आदि भी असत् कहलाते हैं-

"अश्रद्धं हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह"।।

बिना श्रद्धा के वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति में अत्यन्त कठिनाई है-

"सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः"।।

चौथा साधन है- मुमुक्षुत्व। मोक्ष की कामना ही मुमुक्षुत्व है। आत्मज्ञान प्राप्ति का यह प्रधान साधन है क्योंकि यदि मनुष्य को मोक्ष की इच्छा न होगी तो वह मोक्षोपाय का अन्वेषण न करेगा। इससे वह आत्मदर्शन को मोक्ष का उपाय और वेदान्त के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन को आत्मदर्शन का साधन न समझ सकेगा और इस कारण वेदान्त के अध्ययन में उसकी प्रवृति न हो सकने से वेदान्तैकवेद्य आत्मा का ज्ञान उसे न हो सकेगा।

जब मुमुक्षु उपरिलिखित तीन साधनों से मुक्त हो जाता है तब वह मोक्ष की अत्यन्त प्रबल इच्छा रखता है तथा वह अपने आध्यात्मिक गुरु से निरपेक्ष सत्य का ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी बनता है-

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा यस्य हृदिस्थिताः।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते"।।